भारतीय दार्शनिक परम्परा और स्याद्वाद

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
एम० ए० पी-एच० डी० साहित्यरत्न

भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से दार्शनिकों का देश रहा है। विभिन्न ऋषि-महर्षि, सन्त-महन्त, यति-साधु, योगी-महात्मा एवं सत्यद्रष्टाओं के अनुभव तथा चिन्तन से समय-समय पर दार्शनिक क्षेत्र में कई प्रकार के विचारों में परिवर्तन हुआ, और परिणामस्वरूप कई प्रकार के मतों तथा वादों का जन्म हुआ। व्यक्ति और जाति की भिन्नता की भाँति विचारों की भिन्नता भी निरन्तर वृद्धिगत होती रही। यद्यपि इन विभिन्न विचारों का मूल एक है, किन्तु बहुविध शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकसित हो जाने के कारण आज स्वतन्त्र रूप में तथा भिन्न नामों से अभिहित होने लगे हैं। मुख्य रूप से इनकी संख्या दस है—चार्वाक, वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा, ब्रह्म-मीमांसा या वेदान्त, बौद्ध और जैन। इनके मुख्य रूप से दो विभाग किए जा सकते हैं—भौतिकवादी और आध्यात्मिक। चार्वाक भौतिकवादी और शेष आध्यात्मिक रहे हैं। पाश्चात्य जगत् में भौतिकवाद का प्रारम्भ यूनानी विचारक थेलिस—(ई० पू० ६१४-५५०) से माना जाता है और इसका चरम विकास कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में परिलक्षित होता है। भूतवादी और आत्मवादी शत-सहस्राब्दियों से इस देश में रहे हैं। भूतवादी केवल पंचभूतों से या भौतिक तत्त्वों से मानव तथा सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व तथा पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते। किन्तु आत्मवादी जड़ सृष्टि से आत्मा को भिन्न, अजर-अमर तथा बन्धन-मोक्ष, क्रिया काल एवं गतिशील मानते हैं। भारतीय चिन्तन के अनुसार आत्मतत्व सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। आत्मवादी उसे अनादिनिधन एवं सर्वोपरि मानते हैं।

भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों की भाँति जैनदर्शन भी आत्मवादी है, जो आत्मा को सर्वतन्त्र, स्वतंत्र एवं सनातन मानता है। आत्मा ही समस्त ज्ञान-विज्ञानों का आधार है। जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है वह आत्मा है। जानने की सामर्थ्य से ही आत्मा की प्रतीति होती है।[1] आत्मा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाली तथा इन्द्रियों के विषयों को जानने वाली है। आत्मा अनादि अनन्त है। अनादिकाल से हमारी आत्मा कर्मों से आबद्ध है, किन्तु कर्मों से मुक्त हो सकती है। कर्मों से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। दोनों के परस्पर अवगाढ़ सम्बन्ध का नाम संसार है। दोनों ही अनन्त शक्ति के आधार हैं। केवल आत्मा और पुद्गल को ही नहीं धर्म, अधर्म, आकाश और काल को भी द्रव्य माना गया है। पुद्गल के चार भेद हैं[2]—स्कन्ध, स्कन्धप्रदेश, स्कन्धदेश और परमाणु। बादर और सूक्ष्म रूप से परिणत छह स्कन्धों से इस संसार की रचना हुई है।

द्रव्य सत् है। और जो सत् है वह परिवर्तनशील है। किन्तु उसका सम्पूर्ण क्षय कभी नहीं होता। उसकी विभिन्न पर्यायें समय-समय पर बदलती रहती हैं। परन्तु मूल रूप में कभी हानि नहीं होती। अपने मूल रूप को द्रव्य कभी नहीं खोता। जैनदर्शन के अनुसार यह परिणाम प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। गीता का भी यही सिद्धान्त है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का सर्वथा अभाव नहीं होता। सत्वाद का यह सिद्धान्त भारतीय आत्मवादियों का मूल सिद्धान्त रहा है, जो आज तक स्थिर है। जैनदर्शन के अनुसार सत् और असत् दोनों का समावेश भाव में होता है। भाव न केवल सत् है और न असत्। संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब सत्-असत् रूप हैं। कभी सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता।[3] इसी प्रकार अविभाज्य सत् को परमाणु कहा गया है। परमाणु सूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला होता है तथा कई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टियों से एक रूप होते हुए भी कई गुणों की अपेक्षा भिन्न भी होते हैं। इस सत् सिद्धान्त में ही स्याद्वाद का मूल निहित है। भगवतीसूत्र के वचन हैं—"काल की अपेक्षा जीव कभी नहीं था या न रहेगा, यह बात नहीं है। वह नित्य है, शाश्वत है और उसका कभी अन्त नहीं होता।"[४]

स्याद्वाद जैनों का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थ की यथार्थता का कथन किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभी में अनेक धर्म तथा गुण विद्यमान हैं। उन सबका कथन एक साथ कोई कर नहीं सकता। क्रमशः ही उसके विभिन्न गुणों के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। अतः विवक्षा के अनुसार एक समय में किसी एक की मुख्यता को ध्यान में रखकर कथन किया जाता है। इसे ही दार्शनिक शब्दावली में **"कथंचित् अपेक्षा"** से कहा जाता है, जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है।

स्याद्वाद : नया सिद्धान्त नहीं

दार्शनिक इतिहास के गम्भीर अध्ययन से पता लगता है कि जैनधर्म के प्रसिद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नहीं था। वैदिक काल में यह भलीभाँति प्रचलित था। सांख्यों के मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अम्भिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और संशयवाद इन दस सिद्धान्तों पर आधारित था।[५] ऋग्वेद के अनुशीलन से पता चलता है कि सदसद्वाद का सिद्धान्त बहुत व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् में किसी ने 'सत्' को स्वीकार किया और किसी ने असत् को। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि का मूल कारण न सत् था न असत् था।[६] तब केवल एक ही पक्ष रह जाता है कि 'सदसत्' रूप परम तत्त्व या ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः ऋग्वेदकालीन मनीषियों ने अपने हृदय में असत् की प्रतीति न करते हुए सत् को प्राप्त किया था।[७] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी परम आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के हेतु कहा है—जिस व्यक्ति के परमाणु मात्र भी राग-द्वेष आदि हैं, वह आत्मा को नहीं जानता, चाहे आगमधारी ही क्यों न हो?[८] और फिर ऋग्वेद के ऋषि एक ही सत् का बहुविध निर्वचन करते हुए लक्षित होते हैं। कहा भी है—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**।

स्याद्वाद का इतिहास

निश्चित रूप से स्याद्वाद का इतिहास बताना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यह सुनिश्चित है कि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का प्रचलन तथा प्रतिफलन जैन और बौद्धों के जीवन में विशेष रूप से हुआ। यद्यपि वैदिक युग में साध्यों (जो कि पहले देव जाति के थे) के विचारों पर इसकी स्पष्ट छाप लक्षित होती है तथा उपनिषद् **'नेति नेति'** कहकर जिस अनिर्वचनीय तत्त्व का निर्वचन करते हैं उसमें भी इसकी झलक मिलती है, किन्तु ईसा की कई शताब्दियों के पूर्व ही यह सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में मान्य हो चुका था, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। अनेकान्त या स्याद्वाद का सिद्धान्त नयवाद पर आधारित है। जैन-परम्परा के अनुसार नय और निक्षेपों की व्यवस्था तीर्थंकर महावीर और पार्श्वनाथ के पूर्व से ही अनन्तानन्त काल से चली आ रही है। भगवान् महावीर ने उनके आधार पर ही स्याद्वाद का व्याख्यान किया था। भगवान् बुद्ध ने जिस शून्यवाद का निर्वचन किया था उसके अनुसार व्यवहार-व्यवस्था बन ही नहीं सकती थी, इसलिए नय के प्रमुख दो भेदों की भाँति उन्हें 'संवृति-सत्य' और 'परमार्थ सत्य' ये दो विकल्प मानने पड़े। सम्भवतः इसीलिए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने शून्यता-दर्शन को सापेक्षतावाद के रूप में समझाया है। 'माध्यमिकवृत्ति' में तो स्पष्ट ही कहा गया है— सभी 'नास्ति' अस्तित्वपूर्वक होते हैं और सभी 'अस्ति' नास्तिपूर्वक। इसलिए नास्ति की ओर गमन करो और अस्तित्व की कल्पना न करो।[९] आचार्य नागार्जुन ने वस्तुतः शून्यवाद का विवेचन कर वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। उनका कथन है कि वस्तु न भाव रूप है, न अभावरूप और न उभय या अनुभयरूप। वस्तु के साथ कोई विशेषण जोड़कर हम उसका रूप नहीं बता सकते। शून्यवादियों ने कहा था कि तत्त्व न सत् है, न असत्, न उभयरूप है और न अनुभयरूप। इसके विरुद्ध सांख्यों ने तथा प्राचीन उपनिषद्कारों ने सबको सत् रूप ही स्थिर किया। नैयायिक एवं वैशेषिकों ने कुछ को सत् और कुछ को असत् सिद्ध किया। विज्ञानवादी बौद्धों ने तत्त्व को विज्ञानात्मक ही कहा और बाह्यार्थ का अपलाप किया।[१०] नागार्जुन ने वस्तु को अवाच्य माना। परन्तु विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेनदिवाकर ने तत्कालीन नाना वादों को नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैतवादियों की दृष्टि को उन्होंने जैन सम्मत संग्रह नय कहा। क्षणिकवादी बौद्धों का समावेश ऋजुसूत्रनय में किया। सांख्यदृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया तथा कणाद के दर्शन का समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में कर दिया। उनका कथन है कि संसार में जितने दर्शनभेद हो सकते हैं, जितने भी वचनभेद हो सकते हैं उतने ही नयवाद हैं और उन सभी के समागम से अनेकान्तवाद फलित होता है।[११] व्यवहार में भी उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर यथार्थ में सिद्धसेन ने अनेकान्तवाद व स्याद्वाद को विशद रूप में प्रकट किया। उनके समकालीन विद्वान् मल्लवादी हुए। मल्लवादी ने आचार्य सिद्धसेन की 'सन्मतितर्क' की टीका के अतिरिक्त 'नयचक्र' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी रचना की। 'नयचक्र' में विविध वादों को चक्रों के रूप में समुपस्थित कर उनकी सत्यता की कसौटी के रूप में अनेकान्तवाद का विवेचन किया। लगभग सातवीं शताब्दी में सिंह क्षमाश्रमण ने 'नयचक्र' की अठारह हजार श्लोकप्रमाण बृहत्काय टीका लिखी। किन्तु इनके कुछ समय पूर्व ही आचार्य समन्तभद्र अपनी रचनाओं में स्याद्वाद का भलीभाँति तार्किक एवं शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत कर चुके थे। वस्तुतः स्याद्वाद-न्याय को कसौटी बनाकर परीक्षा करने का श्रेय समन्तभद्र को है। उनकी समस्त कृतियाँ तथा जीवन ही अनेकान्तमय रहा है। वे अपने युग के प्रसिद्ध कवि, मर्मज्ञ विद्वान्, वादी और विश्रुत वक्ता थे।[१२] इसी परम्परा में लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्रसूरि और अकलंक हुए। इन दोनों ही तर्कमनीषियों ने समस्त दर्शनों का मन्थन कर न्यायशास्त्र की परम शिला पर अमोघ वज्र की भाँति अनेकान्तवाद की उपस्थापना की। इसी युग में प्रमाणपरीक्षाविषयक 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' के रचयिता आचार्य विद्यानन्दि हुए। यह परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो गई। टीकाओं के रूप में तथा संग्रह के रूप में कुछ न कुछ उक्त विषय पर लिखा जाता रहा। संग्रहकार के रूप में बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रसूरि हुए, जिनका 'स्याद्वादमंजरी' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। किन्तु अनेकान्तवाद का नव्य न्याय की शैली में परिष्कार करने में सफल यशोविजय जी सतरहवीं शताब्दी में हुए। उनका अनेकान्तव्यवस्था नाम का स्वतन्त्र ग्रन्थ सचमुच इस परम्परा की अन्तिम कड़ी कहा जा सकता है। इसी प्रकार अनेकान्त के उत्कृष्ट ग्रन्थ 'अष्टसहस्री' का विवरण तथा आचार्य हरिभद्रसूरि के 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' की स्याद्वाद-कल्पलता टीका लिखकर भलीभाँति परिष्कार किया। विमलदास ने भी 'सप्तभंगीतरंगिणी' की रचना नव्यन्याय की शैली में प्रस्तुत कर जिस सरणि का विकास किया वह आज तक 'सप्तभंगी स्याद्वाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

स्याद्वाद का अर्थ तथा व्याप्ति

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'स्यात्' का प्रयोग निपात रूप में किया गया है इसलिए यहाँ उसका अर्थ शायद या सम्भव न होकर निश्चित अपेक्षा का द्योतन है।[१३] मूल में सिद्धान्त अनेकान्त है, जिसे भाषा के माध्यम से शैलीगत अभिव्यक्ति के कारण स्याद्वाद कहा जाता है। 'स्यात्' शब्द कथंचित् शब्द का पर्यायवाची है और 'वाद' का अर्थ कथन या प्रतिपादन शैली है। इसीलिए स्याद्वाद को सापेक्षवाद, अनेकान्त-वाद[१४] या सप्तभंगी भी कहते हैं। स्याद्वाद की कथनशैली में 'स्यात्' शब्द प्रधान है इसलिए '**स्याद् अस्ति घटः**', '**स्याद् नास्ति घटः**' जैसे वाक्यों का प्रयोग होता है। जगत् परिवर्तनशील है। इसमें प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक अवयव में जाने-अनजाने कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। कहीं यह परिवर्तन विशेष होता है और कहीं सामान्य। कहीं यह परिवर्तन भलीभाँति दृष्टिगोचर होता है और कहीं अलक्ष्य रहता है। किसी वस्तु में हम उस परिवर्तन को पहिचान पाते हैं और किसी में ढूंढ़ने से भी प्रतीत नहीं होता। किन्तु दृश्य-अदृश्यमान सभी वस्तुओं के परिवर्तन के मूल में उनका अस्तित्व विद्यमान रहता है जो ध्रुव एवं शाश्वत होता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु तथा पदार्थ के मूलतः दो भिन्न रूप होते हैं जिन्हें हम अन्तरंग और बहिरंग के नाम से जानते हैं। दार्शनिक शब्दावली में इन्हें हम परमार्थ और व्यवहार कहते हैं। परमार्थ ही निश्चित तथा शाश्वत माना गया है। इन दोनों अपेक्षाओं के कारण इसे सापेक्षवाद कहते हैं। और इसलिए 'स्यात्' शब्द के साथ 'एव' का भी प्रयोग किया जाता है, जैसे कि—**स्यादस्त्येव घटः**। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के सत्, असत् रूप को—उसके वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिए अनेकान्तदर्शन की कुंजी स्याद्वाद है। स्याद्वाद विभिन्न निश्चित अपेक्षाओं से पद-पदार्थ का प्रतिपादन करता है।[१५] अतएव यह एक ऐसी भाषा-पद्धति है जो अनेकान्त की दृष्टि से किसी एक समय में वस्तु के किसी एक धर्म का निश्चित अपेक्षा से कथन करती है। यथार्थ में शब्द सीमित हैं और अर्थ अनन्त। इसलिए भाषा के साँचे में ढलने वाले शब्दों में ऐसी प्रतिबोधक शक्ति होनी चाहिए जो वस्तु के वास्तविक अर्थ को प्रकट कर सकें। किन्तु शब्द अर्थ के प्रत्यायक तो होते हैं पर शब्द के निर्माता अर्थ ही होते हैं। इसलिए किसी भी समय में किसी भी प्रकार के शब्द से यह सम्भव नहीं है कि वह किसी भी पदार्थ के पूर्ण तथा अखण्ड रूप को एक साथ अभिव्यक्त कर सके। सम्भवतः दार्शनिक जगत् की इस समस्या का समाधान करने के लिए स्याद्वाद का जन्म हुआ।

स्याद्वाद की आवश्यकता

संसार में पदार्थ अनन्त हैं, उनका कोई छोर नहीं है। पदार्थ की भाँति उनमें रहने वाले गुण-धर्म भी अनन्त हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है और उसका अस्तित्व एक-दूसरे से भिन्न हैं। अपने अस्तित्व के अतिरिक्त परमाणु मात्र भी वह दूसरे का नहीं है। उसका जो अस्तित्व है वही वह है। उससे भिन्न वह नहीं है। अतएव एक ही पदार्थ में सापेक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रीति से विभिन्न विरोधी धर्म रहते हैं। उन विरोधी धर्मों को ध्यान में रखकर विभिन्न दृष्टिकोणों से उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करना स्याद्वाद है।[१६]

प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण-धर्म मान लेने पर उनके प्रतिपादक शब्दों की, किसी एक ऐसी भाषा-पद्धति या शैली की आवश्यकता थी जो अनेक धर्मात्मक वस्तु का भलीभाँति प्रतिपादन कर सकती। वस्तु के पूर्ण स्वरूप को सामने रखकर विभिन्न प्रकारों, उसके विभिन्न पक्षों एवं रूपों का आकलन कर उनका पृथक्-पृथक् निर्वचन करने के लिए विश्व के दार्शनिक इतिहास में स्याद्वाद अमोघ उपाय है। क्योंकि स्याद्वाद का सिक्का सम्पूर्ण संसार में चलता है। छोटे से दीपक से लेकर व्यापक व्योम तक सभी वस्तुएँ अनेकान्त मुद्रा से अंकित हैं।[१७] इसलिए कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की सीमा के बाहर नहीं है। जिस प्रकार से यह कहा जाता है कि भलीभाँति जाना हुआ एक शब्द मनोवांछित फल को देने वाला होता है उसी प्रकार से विविध अपेक्षाओं से स्याद्वादी नय के द्वारा विज्ञात पदार्थ वास्तविक रूप को प्रकट करने वाला होता है। वस्तु के प्रत्येक रूप को तथा विविध अवयवों को जाने बिना हम उसके अखण्ड रूप को नहीं जान सकते। केवल उसकी सतह मात्र को या किसी एक अंग को जान लेने पर सम्पूर्ण रूप कैसे ज्ञात हो सकता है? यदि हम व्यावहारिक जीवन के किसी पहलू का भलीभाँति विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि सच्चे ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानाभास ही अधिक झलकता है। इसलिए हमारा व्यावहारिक ज्ञान आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रत्येक आत्मिक-क्रियाओं को तथा उनकी गति को यथार्थ रूप में समझने में असफल ही रहता है। भीतरी और बाहरी जीवन में जो अन्तर है, वह एक बार भले ही समझ में आ सकता है, किन्तु अन्तर दर्शाने वाली प्रत्येक क्रिया को सूक्ष्मता से समझने के लिए स्याद्वाद व अनेकान्त का सहारा लेना ही पड़ता है। क्योंकि संसारी जीव अल्पज्ञ है। उसके जीवन में वह अनेकान्तिक दृष्टि नहीं है, जिससे वह सत्, असत्, उभय और अनुभय इन चार कोटियों को भलीभाँति ध्यान में रखकर चिन्तन एवं आचरण करता हो। परन्तु अहिंसा की परिपूर्णता के लिए अनेकान्तिक दृष्टि, विचार एवं आचरण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। जो अनेकान्ती है वह सचमुच मानसी अहिंसक है। उसके मन में कोई द्वैत नहीं रह जाता। वह तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर यथार्थ तथा अयथार्थ का निर्णय करने में समर्थ होता है और विविध आध्यात्मिक अनुभूतियों की तारतम्यता को स्याद्वादी भाषा में भलीभाँति अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तुतः अनेकान्त का सिद्धान्त उनके लिए चुनौती है जो संसार की क्षणिकता में तो विश्वास रखते हैं पर विभिन्न अपेक्षाओं से आत्मा, जगत् और जीवन का विचार नहीं करते। इससे यह भी चिन्तन प्रकट होता है कि धर्म 'केवल इतना ही या ऐसा ही' नहीं है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और समय तथा निमित्त पाकर वे कभी न कभी किसी न किसी रूप में प्रकट होते हैं। जैन आगम ग्रन्थों में इसे कई उदाहरणों से समझाया गया है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक क्षण दृश्यमान जगत् में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। समय, अवस्था, ऋतु और सम्वत् आदि इस परिवर्तन के ही स्पष्ट प्रमाण है। यह परिवर्तन प्रत्येक वस्तु में दो रूपों में निरन्तर होता रहता है। परिवर्तन का प्रथम स्वरूप क्षणिक एवं अस्थाई लक्षित होता है। जैसे कि सामने स्थित विभिन्न पुष्पों को प्रतिदिन जन्म लेते, विकसित होते और जीर्ण-शीर्ण होकर धूलि में मिलते देखते हैं। किन्तु बड़े-बड़े पेड़ों की डालियों से लगने वाले पत्रों को पतझड़ में झरते, वसन्त में कोमल-कोपल उगते, आतप में कुम्हलाते और वर्षा में लहलहाते तथा शिशिर में ठिठुरते हुए देखते हैं। किन्तु यह परिवर्तन दृश्यमान है। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं में और विशेषकर जड़ वस्तुओं में होने वाला परिवर्तन सामान्य रूप से लक्षित नहीं होता। दीर्घकाल की अवधि में ही जाकर कुछ पता चलता है कि हमारे सामने की कुर्सी-मेज और चारपाई में भी कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, किन्तु हमें सहसा भान नहीं होता। परन्तु परिवर्तन के बीच हमें इसका भी स्पष्ट अनुभव होता है कि प्रत्येक पदार्थ में होने वाला परिवर्तन कथंचित् कम और बाहरी है। और उसका अस्तित्व स्थाई तथा नित्य है। अर्थात् परिवर्तन उसके कुछ अंशों में ही परिलक्षित होता है। उससे वस्तु इसीलिए बिलकुल नहीं बदलती। यदि वह बिलकुल बदल जाय तो हम दूसरे दिन उसे पहचान बिना यह समझ में नहीं आ सकता कि इन जड़ वस्तुओं में भी क्या कोई परिवर्तन होता है। फिर, इनके समझने और कथन की शैली में अत्यन्त भिन्नता है। उदाहरण के लिए वेदान्त दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं अर्थात् नहीं हैं। केवल सत् आत्मा है और वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ आत्मा के वृत्तिरूप हैं। कहने का अर्थ यह है कि वस्तुतः वे वस्तुएँ नहीं हैं, केवल उनका भान होता है। यह कथन किसी दृष्टि से और किसी सीमा तक सत्य हो सकता है। और इसीलिए दर्शन का भली-भांति अनुशीलन करने वाले साहित्यकारों ने 'रस को आत्मचैतन्य स्वरूप' माना है। किन्तु रस नित्य नहीं है। क्योंकि सदा उसकी अनुभूति नहीं होती। और व्यवहार में रस उत्पन्न तथा विनष्ट होता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य-जगत् में भी आत्मतत्व स्वरूप रस का विचार करने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर उसके नित्यत्व, अनित्यत्व का चिन्तन किया गया है। इसी प्रकार जीवन और जगत्, प्रकृति तथा विकृति, सत् और असत्, एवं जड़ और चेतन आदि का विचार अनेकान्तिक तुला पर ही भलीभांति किया जाता रहा है। शब्दों को ठीक-ठीक तौल कर यथाक्रम में प्रवृत्ति या अभिव्यक्तीकरण किसी अपेक्षा को ध्यान में रख कर ही किया जाता है। बिना अनेकान्त के व्यवहार ठीक से बनता नहीं। अनेकान्त की इसलिए भी संसार को आवश्यकता है कि स्थान-स्थान पर विषमता और अज्ञान है उसे ठीक से समझे बिना समानता और सुख की स्थापना नहीं हो सकती। अनेकान्त नये-शृंखला से सम्बद्ध वह न्याय-तुला है जिस पर जीवन के विभिन्न पक्षों को यथार्थ रूप में देखा-परखा जा सकता है।

अनेकान्त बनाम समन्वयवाद

यदि हम दर्शन के मूल इतिहास का गम्भीरता के साथ अध्ययन करे तो स्पष्ट हो जायगा कि वैदिक युग के ऋषि-महर्षि ही नहीं, उनके पूर्वज भी 'सदसत्' के सिद्धान्त को मानते थे। उनके अनुसार कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि 'यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई। जगत् का आदिकारण सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। किन्तु कवियों ने अपने हृदय में सत् के बन्धन को असत् में देखा था।[१८]

इसी प्रकार चिर सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर गौतम बुद्ध ने जिन 'अस्ति' और 'नास्ति' की विभिन्न कोटियों को निकृष्ट तथा मूल वस्तु से भटकना बतलाया था उन्हीं को लेकर उनके दार्शनिक अनुयायियों के सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी आदि विभिन्न सम्प्रदाय हो गए।[१९] और परिणामस्वरूप मध्यममार्ग का जन्म हुआ। वस्तुतः एक ही वस्तु में नित्य, अनित्य, गुण-अवगुण, सुन्दर-असुन्दर आदि अनन्त धर्म रहते हैं। और इसलिए अनेकान्त उन सभी दृष्टियों का संश्लेषणात्मक '**सकलादेश**' प्रस्तुत करता है जो सविकल्प है, खण्ड-खण्ड है। संसार में दृश्यमान पदार्थ खण्ड-खण्ड रूप में ही लक्षित होते हैं। उनके देखने और समझने में मानव की अल्पज्ञता भलीभांति अभिव्यक्त होती है। अतएव किसी भी वस्तु की सत्ता या असत्ता के सम्बन्ध में हम केवल यही कह सकते हैं कि वह किसी अपेक्षा से ऐसा है और किसी अपेक्षा से ऐसा नहीं है तथा किसी अपेक्षा से वैसा है और नहीं भी है। इन तीन कोटियों के आधार पर सप्तभंग होते हैं, जिन्हें सप्तभंगी नय कहते हैं।[२०] ये सप्तभंग अखण्ड सत्य को समझने के लिए विभिन्न दृष्टियों का एकीकरण है जो वस्तु-निर्वचन में सम्यक्दृष्टि की उपपत्ति करता है। और इसीलिए स्याद्वाद को समन्वयवाद भी कहा जाता है। इसमें सभी दृष्टियों का सम्यक् अन्वय रहता है। उपनिषद् जिस आत्मतत्व का निर्वचन 'नेति नेति' कहकर करते हैं वस्तुतः वह भी स्याद्वाद की एक शैली है। भाषा में उस अनिर्वचनीय अनुभूति को कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है? स्याद्वाद के मूल बिन्दु पर व्यवहार और निश्चय का समन्वय हुआ है। सामान्य रूप से व्यवहार अभूतार्थ तथा असत्यार्थ कहा गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वस्तु के अंश या पर्याय सर्वथा असत्य है। एक आत्मवादी की दृष्टि में भौतिक शरीर और यह संसार असत्य, मिथ्या तथा अनित्य हो सकता है, लेकिन उसके ऐसे मानने से वह असत्य नहीं हो जाता। यह तो केवल भेदकल्पना है। अतएव द्रव्यदृष्टि को सापेक्ष कहा गया है। और विविध अपेक्षाओं को केन्द्र में रखकर कथन किया जाता है। परन्तु आचार्य शंकर का कथन है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी स्वभाव नहीं रह सकते, इसलिए यह आर्हतमत असंगत है।[२१] किन्तु हमें अनुभव होता है कि हम में अविद्या और विद्या, अज्ञान और ज्ञान, गुण-अवगुण आदि अनेक विरोधी-धर्म एक साथ रहते हैं। यदि हममें चेतनत्व हैं तो जड़ के भी अंश हैं और कभी-कभी जड़ता प्रकट हो जाती है। सत्-असत् को स्वरूपचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) और पररूपचतुष्टय की दृष्टि से मानने में कोई दोष उपस्थित नहीं होता।[२२] इसलिए केवल व्यवहारपक्ष को ही ध्यान में रखकर आचार्य शंकर तथा परवर्ती विद्वानों का दोष देना या स्याद्वाद को संदेहवाद कहना उचित नहीं है। जो परमार्थसत्य और व्यवहारसत्य को मिला देते हैं वे ऐसा ही समझते हैं। आचार्य समन्तभद्र का स्पष्ट कथन है कि तत्व न तो सन्मात्र है और न असन्मात्र है। क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत् तत्व और असत् तत्व दिखलाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार सब धर्मों के निषेध का विषयभूत कोई एक तत्व भी नहीं देखा जाता। हां, सत्वासत्व से विभिन्न तथा परस्परापेक्षरूप तत्व अवश्य देखा जाता है, जो उपाधि के (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के) भेद से है।[२३]

व्यवहार में अनेकान्त

दैनिक जीवन में कई प्रकार के विरोधी, उलझनों में डालने वाले तथा आँखों और बुद्धि को चक्कर में डालने वाले कार्यों को देखना-समझना और कभी-कभी परिस्थितिवश करना भी पड़ता है। हमारी प्रत्येक क्रिया निश्चित और उद्दिष्ट होने पर कभी-कभी भिन्न होती है। यदि हम सावधानी से अपने काम में लगे हों और कोई अचानक हमारे कार्य के संबंध में प्रश्न कर बैठे तो हम अचकचाकर ही उतर देते हैं। और कभी कोई बात न बतानी हो तो क्षणभर के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोचना पड़ता है कि क्या कहें, जिससे बात छिप भी सके और ठीक भी बता दी जाय। ऐसे अवसरों के अतिरिक्त सामान्य रूप से भी जब कोई मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछता है तो मेरा उत्तर होता है—हाँ, ठीक तो हूँ। किन्तु पूछने वाले को इससे असन्तोष नहीं होता। 'तो' शब्द उसे खटकता है। इसलिए बात स्पष्ट करने के लिए फिर पूछता है—क्या पहले से ठीक है ? उत्तर मिलता है—कुछ तो ठीक है। किन्तु इससे पूरी जानकारी नहीं मिल पाती। अतएव फिर प्रश्न होता है कि औषध से बराबर लाभ मिल रहा है या नहीं ? मैं कहता हूँ—लाभ तो दिखलाई नहीं पड़ता पर बिलकुल लाभ न हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कुल समझ में अर्थ यही निकलता है कि कुछ लाभ है, कुछ नहीं। बस यही 'अस्ति' और 'नास्ति' है। विद्वान् की शंका है कि 'अस्ति' से काम चल सकता है तो नास्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु बात ऐसी नहीं है। बिना अन्धकार के प्रकाश कैसा और बिना असत् के सत् कैसा ? अन्धकार के अभाव में प्रकाश और सत् के अभाव में असत् दिखलाई पड़ता है। दोनों अविनाभावी हैं। जिस प्रकार व्यवहार और परमार्थ (सत्य) को ध्यान में रखकर विचार किया जाता है, उसी प्रकार सत् और असत् दोनों को एक साथ ध्यान में रखा जाता है। और इसलिए सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति का अर्थ है असत् का सर्वथा अभाव। दर्शन में तथा व्यवहार के क्षेत्र में यह अर्थ बराबर समझा जाता रहा है और समझा जाता है। अनेकान्त के बिना किसी प्रकार का व्यवहार चल नहीं सकता हैं। सोने-चांदी का व्यापारी जब किसी हार को खरीदता है, तब पचास ग्राम के तौल वाले उस वजन के हार का सोने के उस दिन के भाव के पूरे दाम नहीं देता है। यद्यपि वह जानता है कि यह पूरा हार सोने का बना हुआ है, किन्तु वह यह भी जानता है कि इसमें चार ग्राम मिलावट है। इसलिये वह मिलावटी वस्तु के दाम कैसे दे सकता है ? जो उस अनेकान्त की दृष्टि से मूल वस्तु को या वस्तु-स्वभाव को नहीं समझे, तो आध्यात्मिक जगत् में कहाँ वह भरमा सकता है, इसका उसे भी पता नहीं चलेगा। अतएव अनेकान्त व्यवहार की कसौटी है। नय और प्रमाण की भी सम्यक्व्यवस्था अनेकान्त पर आधारित है। हमें तत्-तत् वस्तुओं को उनके गुण-धर्मों के अनुसार विश्लेषित कर समझनी चाहिए। हमारे व्यावहारिक जीवन में जिन विशेषणों का, क्रियाओं का तथा साधन-धर्मियों का प्रयोग किया जाता है, वह सब अनेकान्तपरक होता है। क्योंकि अपने आप में कोई छोटा-बड़ा, भला-खराब तथा सुन्दर-असुन्दर नहीं होता। हमारी समझने की और मानने की अलग-अलग दृष्टियों के कारण वह वस्तु हमें वैसी लक्षित होती है। वास्तव में वस्तु तो जैसी है, वैसी ही है।

यह प्रतिदिन के व्यवहार में देखने में आता है कि भौतिक जगत् में स्थान, समय तथा भावों की विलक्षणता के कारण एक ही वस्तु, व्यक्ति तथा स्थान की प्रतीति भिन्न-भिन्न समयों में अपने अलग-अलग रूपों में होती है। सामान्यतः दूध का रूपान्तरण होने पर वह स्वयं दही में दिखलाई पड़ने लगता है। दूध से दही बनने का बहिरंग कारण बेक्टेरिया या सूक्ष्म जीवाणु हैं, किन्तु अन्तरंग कारण स्वयं दूध का परिणमन है। बाहर से प्रतीत होने वाली इन विभिन्न अवस्थाओं में भी मूल द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है, यह व्यावहारिक तथा यथार्थ दृष्टि भी हमें अनेकान्त सिद्धान्त से मिलती है। इसलिए कहा गया है—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिवडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥—सन्मतिसूत्र, ३. ६९

अर्थात्—जिसके बिना लोक के सभी व्यवहार निष्पन्न नहीं हो पाते, अखिल भुवन के उस एक अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

संक्षेप में, अनेकान्तवाद का सिद्धान्त व्यवहार और परमार्थ दोनों का विलक्षण आश्रयस्थान है इसका आश्रय लिए बिना व्यवहार और परमार्थ दोनों भलीभांति निष्पन्न नहीं हो पाते। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं। उन अनन्त धर्मों का कथन अनेकान्त की दृष्टि से ही स्याद्वाद की भाषा में किया जा सकता है। वास्तव में परमार्थ में वस्तु का सत्य ही ग्राह्य होता है। इसलिए 'सत्' को लेकर ही अनेकान्त का व्यवहार होता है। कोई यह कहना चाहे कि किसी अपेक्षा से गधे के सींग होते हैं और किसी अपेक्षा से नहीं होते, तो यह न तो व्यवहार में और न अनेकान्त में घट सकता है। अनेकान्त का प्रयोग वहीं किया जा सकता है जहाँ वस्तु है। जहाँ वस्तु ही नहीं है, वहां उसके धर्मों को अनेकान्त कैसे प्रकाशित कर सकता है ? यह व्यवहार भी कैसे बन सकता है कि किसी अपेक्षा से यह माता है और किसी अपेक्षा से वन्ध्या है। यद्यपि अनेकान्त विरोधी धर्मों को प्रकाशित करता है; जैसे कि—जीव अमूर्तिक है, कथंचित् मूर्तिक भी है, किन्तु यहां जीव द्रव्य का सद्भाव होने से अनेकान्त चरितार्थ हो सकता है। परन्तु जहाँ वस्तु ही वैसी न हो, वहाँ अनेकान्त नहीं बन सकता है। इसी प्रकार व्यवहार में अधिकतर व्यक्तियों की अनुभुत वस्तु में भिन्नता भी लक्षित होती है, किन्तु पूर्ण रूप से एक अखण्ड वस्तु के सत्य में भिन्नता नहीं होती। इस व्यवहार और परमार्थ से द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायों को अनेकान्त भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भलीभांति समझाने वाला है। अखण्ड वस्तु-तत्त्व का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्णय करने के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है। इतना ही नही, अनेकान्तवाद स्व-परिणाम के रूप में नयवाद का मौलिक विधान करता है, जिसके अनुसार हम अपने को तथा संसार की अन्य वस्तुओं, उनके धर्म तथा दर्शनों को उन सब की अपनी-अपनी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें, तो स्वतः ही सब विरोध समाप्त हो जाते हैं। जब कोई विरोध ही नहीं रह जाएगा, तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव भी अपने आप दूर हो जायेंगे। इस प्रकार यह अनेकान्तवाद का सिद्धान्त व्यक्तिगत तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्तियों में उदात्त बौद्धिक वृत्ति को जाग्रत कर व्यवहार की यथार्थ भूमिका प्रस्तुत करता है।

संदर्भ स्थल :

१ जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए॥ —**आचारांगसूत्र** ५, ६०

२ खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा॥ —**पंचास्तिकाय, गा० ७४**

३ भावस्स णत्थि नासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो। —**पंचास्तिकाय,** १, १५

४ कालओ णं जीवे ण कयावि ण आसि, णिच्चे णत्थि पुण से अन्ते। —**भगवती सूत्र,** २, २, उ० १

५ **देवदत्त शास्त्री : चिन्तन के नये चरण, पृ० ६८**

६ नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ —**ऋग्वेद,** १०, १२६

७ वही, १०, १२६, ४

८ **परमाणु मित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जये जस्स।**
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि॥ —**समयसार, १५६**

९ **अस्तित्वपूर्वकं नास्ति अस्ति नास्तित्वपूर्वकम्।**
अतो नास्ति न गन्तव्यं अस्तित्वं न च कल्पयेत्॥

१० श्री दलसुखभाई मालवणिया के 'जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन' से उद्धृत, पृ० ११

११ दलसुखभाई मालवणिया के 'जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा' से —उद्धृत, पृ० ५

१२ कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्निचूडामणीयते॥ —**आदिपुराण**

१३ (क) सर्वथात्वनिषेधको नेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः। —**पंचास्तिकाय टीका**
(ख) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषकः।
स्यान्निपातार्थयोगित्वात् केवलिनामपि॥ —**आप्तमीमांसा, १०३**

१४ 'स्यादित्यव्ययमनेकान्ताद्योतकं ततः स्याद्वाद 'अनेकान्तवाद' इति यावत्। —**स्याद्वादमंजरी**

१५ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। —**लघीयस्त्रय टीका, ६२**

१६ एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध नानाधर्म स्वीकारो हि स्याद्वादः। स्याद्वादो नैकान्तवादः।
—**स्याद्वादमंजरी, टीका, ५**

१७ आदीपमाव्योम समस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥ —**अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका,** ५

१८ दृष्टव्य है—ऋग्वेद, दशम मण्डल (१०,१२६,१-७)

१९ भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग प्रथम, पृ० २४५।

२० स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च वक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः।

२१ दृष्टव्य है—असंगतमिदमार्हतमतम्, —**ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य,** २,२, ३३-३४

२२ सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि—चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ —**देवागम,** १,१५

२३ न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्व निषेध गम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेषि नेतत्वदृषेः परेषाम्॥—**युक्त्यनुशासन,** ३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org